अमृत कण

भगवान श्री रजनीश

अमृत-कण

भगवान् श्री रजनीश

सम्पादन :

स्वामी योग चिन्मय

जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई,

१९७२

प्रकाशक :
ईश्वरलाल एन. शाह,
मंत्री, जीवन जागृति केन्द्र,
३१, इजरायल मोहल्ला,
३१, इजरायल मोहल्ला,
भगवान भुवन, मस्जिद बन्दर रोड,
बंबई-९

द्वितीय आवृत्ति, प्रति ३०००,
अगस्त, १९६६
तृतीय आवृत्ति, प्रति ५०००
फरवरी १९६८
चतुर्थ संशोधित संस्करण
प्रतियां : ५०००
सितम्बर, १९७२

मूल्य रु. १.००

मुद्रक :
मे० खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
७ वीं खेतवाड़ी, बम्बई-४
के लिये डी० एस० शर्मा

अमृत - कण

(भगवान् श्री रजनीश के प्रवचनों से संकलित)

अ. क. २

अनुक्रम :

सत्य

जीवन तो अंधकार है, लेकिन जिनके पास सत्य का दीपक है, वे सदा प्रकाश में ही जीते हैं। **जिनके भीतर प्रकाश है, उनके लिये बाहर का अंधकार रह ही नहीं जाता।** बाहर अंधकार की मात्रा उतनी ही होती है, जितना कि वह भीतर होता है। वस्तुतः बाहर वही अनुभव होता है, जो कि हमारे भीतर उपस्थित होता है। बाह्य अनुभव भीतर की उपस्थितियों के ही प्रक्षेपण हैं। यही कारण है कि इस एक ही जगत् में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न जगतों में रहने में समर्थ हो जाते हैं!

इस एक ही जगत् में उतने ही जगत् हैं जितने कि व्यक्ति हैं। और किसे किस जगत् में रहना है, यह स्वयं उसके सिवाय और किसी पर निर्भर नहीं। हम स्वयं ही उस जगत् को बनाते हैं, जिसमें कि हमें रहना है। हम स्वयं ही अपने स्वर्ग या अपने नर्क हैं।

अंधकार या आलोक जिससे भी जीवन पथ पर साक्षात् होता है, उसका उद्‌गम कहीं बाहर नहीं, वरन् हमारे ही भीतर होता है। क्या कभी अपने सोचा है कि सूर्य अंधकार से परिचित नहीं है? उसकी अभी तक अंधकार से भेंट ही नहीं हो सकी है?

जेम्स लावेल ने कहा है: 'सत्य को हमेशा सूली पर लटकाये जाते देखा और असत्य को हमेशा सिंहासन पाते!' मैं कहता हूं कि यह बात तो सत्य है, किंतु आधी ही सत्य है, क्योंकि सत्य सूली पर लटका हुआ भी सिंहासन पर होता है और असत्य सिंहासन पर बैठकर भी सूली पर ही लटका रहता है!

सत्य विश्वास नहीं है। सब विश्वास अंधे होते हैं और सत्य तो आत्म-चक्षु है। वह विश्वास नहीं, विवेक है। और विवेक के जन्म के लिये समस्त विश्वासों की जंजीरें तोड़ देनी होती हैं, क्योंकि जिसे सत्य को जानना है उसे सत्य को मानने का अवकाश ही नहीं है। क्या कोई अंधा रहकर भी प्रकाश को देखने में समर्थ हो सकता है और क्या कोई तट पर जंजीरों से बंधा हुआ जहाज भी सागर की यात्रा कर सकता है?

सत्य सिद्धांत नहीं, अनुभूति है। इससे शास्त्र में नहीं, स्वयं में ही उसे खोजना है। शब्दों से हुआ उसका ज्ञान तो अक्सर अज्ञान से भी घातक है। क्योंकि अज्ञान में एक पीड़ा है और उसके ऊपर उठने की आकांक्षा है, लेकिन तथाकथित थोथा

शास्त्रीय ज्ञान तो उल्टे अहंकार की पुष्टि बन जाता है। **अहंकार अज्ञान से भी घातक है।** वस्तुतः तो ज्ञान का अहंकार, अज्ञान का ही अत्यंत घनीभूत रूप है — इतना घनीभूत कि वह फिर अज्ञान ही प्रतीत नहीं होता है।

सत्य शक्ति है। असत्य अशक्ति। इसलिये असत्य को चलने के लिये सत्य के ही पैर उधार लेने होते हैं। सत्य के सहारे के बिना वह एक पल भी जीवित नहीं रह सकता। फिर भी हम ऐसे पागल हैं कि उसका ही सहारा खोजते हैं जो कि स्वयं ही सहारे की खोज में है। क्या भिखारी से भीख मांगने जैसा ही यह उपक्रम नहीं है?

जीवन में दो ही चीजें पाने जैसी हैं। सत्य और प्रेम, लेकिन जो सत्य को पा लेता है, वह अनजाने ही प्रेम में प्रतिष्ठित हो जाता है और जिसका प्रवेश प्रेम के मंदिर में हो जाता है वह पाता है कि वह सत्य के समक्ष खड़ा हुआ है। **प्रेम है सत्य का प्रकाश और सत्य है प्रेम की यात्रा की पूर्णता।** लेकिन यदि सत्य का साधक स्वयं में प्रेम को विकसित होता हुआ न पावे, तो जानना चाहिये कि वह किसी भ्रांत मार्ग पर है और ऐसे ही प्रेम की साधना में ज्ञात हो कि सत्य निकट नहीं आ रहा है तो निश्चित है कि प्रेम के नाम से किसी भांति की मूर्च्छा और मादकता ही साधी जा रही है। **सत्य के पथ पर प्रेम कसौटी है और प्रेम के पथ पर सत्य परीक्षा है।**

क्या आपको ज्ञात है कि हीरा मूलतः कोयला ही है! कोयले में ही हीरा छिपा होता है? ऐसे ही स्वयं हम में ही सत्य भी छिपा हुआ है।

सत्य ही एकमात्र धर्म है। और अधार्मिक वह नहीं है, जो कि तथाकथित धर्मों के विरोध में खड़ा है, क्योंकि अक्सर तो वही सत्य के अधिक निकट होता है। अधार्मिक तो वह है जो कि सत्य के विरोध में खड़ा होता है और तब बहुत से धार्मिक अधार्मिक ही हैं। सत्य स्वयं ही धर्म है, इसीलिये सत्य का कोई भी धर्म नहीं है। सत्य का कोई संप्रदाय नहीं है, न ही हो सकता है। संप्रदाय तो सब स्वार्थ के हैं। सत्य का कोई संगठन भी नहीं है क्योंकि सत्य तो स्वयं ही शक्ति है और उसे संगठन की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती है।

सत्य की कोई शिक्षा नहीं होती है। प्रेम की भी नहीं होती। सिखाया गया प्रेम क्या होगा! सिखाया हुआ सत्य भी सत्य नहीं होता है।

सत्य एक ही है। इसलिये जहां विचार है, वहां सत्य नहीं होगा, क्योंकि विचार अनेक हैं। विचारों को छोड़कर जब चित्त निर्विचार होता है, तभी सत्य की अनुभूति होती है। **सत्य साक्षात् का द्वार विचार नहीं, निर्विचार समाधि है।**

अहिंसा

अहिंसा ऐसे हृदय में वास करती है, जो इतना बड़ा हो कि सारी दुनिया के फूल उसमें समा जावें, लेकिन जिसमें इतनी सी भी जगह न हो कि एक छोटा सा कांटा भी वहां निवास बना सके।

अहिंसा है निरहंकार जीवन। अहंकार में ही सारी हिंसा छिपी है। अहं केन्द्रित जीवन ही हिंसक जीवन है। अहं जहां जितना घनीभूत है, वहाँ न-अहं के प्रति उतना ही विरोध और शोषण भी होगा। इसलिये मेरी दृष्टि में अहिंसा मूलतः अहंकार के विसर्जन से ही फलित होती है। **अहं क्षीण होता है तो प्रेम विकसित होता है। अहं शून्य होता है तो प्रेम पूर्ण हो जाता है।**

अहं शोषण है, तो प्रेम सेवा है। और जैसे ही अहं का केन्द्र टूटता है तो प्रेम की अपूर्व ऊर्जा का विस्फोट होता है। जैसे पदार्थ के अणु-विस्फोट से अनन्त शक्ति पैदा होती है, ऐसे ही अहं के टूटने से भी होती है। उस शक्ति का नाम ही प्रेम है। वही अहिंसा है। अहिंसा की शक्ति अमाप है। वह व्यक्ति के माध्यम से स्वयं परमात्मा का प्रवाह है।

अहिंसा जहां है, वहीं अभय है। क्योंकि जहां प्रेम है, वहां भय कैसा? हिंसा के पीछे तो भय सदा ही उपस्थित है। हिंसा तो भय से कभी मुक्त हो ही नहीं सकती और इसलिए हिंसा कभी दुख से भी मुक्त नहीं हो सकती है। भय दुख है और दुख नरक है। इसलिये मैं यह नहीं कहता कि हिंसक नरक में जाता है। मैं कहता हूँ कि हिंसक नरक में ही जीता है। इसके ठीक विपरीत **अभय आनन्द है। अभय मुक्ति है।** और अभय का मार्ग है प्रेम। जिसे हम प्रेम करते हैं, उसके ही भय से हम मुक्त हो जाते हैं। जो समस्त को प्रेम करता है, वह सहज ही सर्वभय से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान प्रेम में प्रगट होता है, अज्ञान अप्रेम में। जिस चित्त से घृणा बहती हो, निश्चय ही वह चित्त अज्ञान में है। क्योंकि **घृणा और हिंसा से दूसरों का नहीं, मूलतः तो स्वयं का ही अहित होता है।** अपराध मात्र बहुत गहरे में स्वयं के प्रति ही होते हैं। दूसरों तक भी उनका विष पहुँचता है, लेकिन वह गौण ही है। जो हम दूसरों से करते है, उसे स्वयं के प्रति पहले ही कर चुके होते हैं। दूसरों के प्रति किये गये बड़े से बड़े अपराध स्वयं के प्रति किये गये अपराधों की अत्यंत धीमी प्रतिध्वनियाँ मात्र हैं।

अहिंसा प्रेम है, और प्रेम किसी से सम्बन्ध नहीं, वरन् **अंतस की एक दशा है।** इसलिये वह बन्धन नहीं, मुक्ति है। जहां बंधन है, वहां प्रेम नहीं, प्रेम का धोखा है, क्योंकि **प्रेम बांधता नहीं मुक्त करता है।**

प्रेम उस दिन परिपूर्ण होता है, जिस दिन मेरे बाहर कोई नहीं रह जाता है और मैं किसी के बाहर नहीं रह जाता हूँ।

अहिंसा स्वयं के शरीर के ऊपर उठना है। जो शरीर में ही घिरा रह जाता है, वह हिंसा से मुक्त नहीं हो सकता। शरीर शोषण ही जानता है, प्रेम नहीं। **प्रेम शरीर की नहीं, आत्मा की शक्ति और संभावना है। प्रेम आत्मा की सुवास है।**

अहंकार

मैं अपने से पूछता था : 'आत्मा और परमात्मा के बीच में कौन सी दीवार है?' बहुत खोजा लेकिन कोई भी उत्तर नहीं पाया। फिर थककर बैठ गया तब अचानक दीखा कि 'मैं' ही तो दीवार हूँ! **अहंकार ही स्वयं और सत्य के बीच एकमात्र दूरी है।**

अहंकार दबाया जा सकता है और विनम्रता ओढ़ी जा सकती है। वह कोई बहुत कठिन बात भी नहीं, लेकिन तब अहंकार और भी गहरा और सूक्ष्म होकर चित्त को पकड़ लेता है। यह पकड़ क्रमशः अचेतन होती जाती है और स्वयं व्यक्ति को भी उसका बोध नहीं रह जाता। किन्तु स्मरण रहे कि ज्ञात शत्रुओं से अज्ञात शत्रु ज्यादा घातक होता है। यह दमित अहंकार विनम्रता से ही प्रगट होने लगता है।

अहंकार को विसर्जन करने का मार्ग दमन नहीं, संघर्ष नहीं, वरन् उसकी समस्त अभिव्यक्तियों और उसके समस्त मार्गों का सूक्ष्मतम अवलोकन और बोध है। मन के जिस तल पर अहंकार का साक्षात् हो जाता है, अहंकार उसी तल पर अपना आवास छोड़ देता है। जैसे प्रहरी सजग हो तो चोर घर में नहीं आते हैं, ऐसे ही **हम यदि सतत् जागरूक और सचेत हों तो क्रमशः अहंकार शून्य होने लगता है। और जहां अहंकार शून्य है, वहीं आत्मा अपनी पूर्णता में प्रगट होती है।**

अहंकार को खोने वाले हानि में नहीं रहे हैं। क्या देखते नहीं है कि बीज मिटकर वृक्ष को पा लेता है और सरिता स्वयं को खोकर सागर हो जाती है? **स्वयं को खोना ही स्वयं को पाना भी है।**

अपरिग्रह

अपरिग्रह यानी आत्मनिष्ठा। परिग्रह का विश्वास वस्तुओं में है, अपरिग्रह का स्वयं में। अपरिग्रह का मूलभूत सबंध संग्रह से नहीं, संग्रह की वृत्ति से है। जो उसका सम्बन्ध संग्रह से ही मान लेता है, वह संग्रह के त्याग में ही अपरिग्रह की उपलब्धि देखता है, जबकि संग्रह का आग्रहपूर्ण त्याग भी वस्तुओं में ही विश्वास है। वह परिवर्तन बहुत ऊपरी है और व्यक्ति का अंतस्तल उससे अछूता ही रह जाता है।

संग्रह नहीं, संग्रह की विक्षिप्त वृत्ति विचारणीय हैं। स्वयं की आंतरिक रिक्तता और खालीपन को भरने के लिये ही व्यक्ति संग्रह की दौड़ में पड़ता है। रिक्तता से भय पैदा होता है और उसे किसी भी भांति धन से, यश से, पद से, पुण्य से या ज्ञान से भर लेने से सुरक्षा मालूम होने लगती है।

यह रिक्तता त्याग की दौड़ से भी भरी जा सकती है। लेकिन ऐसे रिक्तत भरती नहीं केवल भूली रहती है और मृत्यु का आघात सारी वंचना को नष्ट कर देता है। इसलिए ही मृत्यु की कल्पना भी भयभीत करती है। वह भय मृत्यु का नहीं है, क्योंकि भय उसके सम्बन्ध में ही हो सकता है जिसे कि हम जानते हों और जिससे परिचित हो। मृत्यु है अज्ञात और अनजान। और उससे हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इससे भय मृत्यु का नहीं, भय है उस रिक्तता का जिसे हम तथाकथित जीवन से ढांके हुये हैं और भूले हुये हैं और जिसे मृत्यु निश्चित ही उघाड़ देने को है।

संग्रह की शक्ति असत्य है, क्योंकि वह शक्ति स्वयं की नहीं है। शक्ति तो वही सत्य है जो कि स्वयं की है। संग्रह मात्र, 'पर' है। उसे शक्ति और सुरक्षा मानकर जो चलता है, वह जीवन को व्यर्थ ही खो देता है।

आत्म ज्ञान न हो तो प्रत्येक के **भीतर बहुत गहरे अभाव का बोध** होता है। ऐसा बोध स्वाभाविक ही है और **इस बोध का संताप ही स्वयं में क्रांति भी लाता है।** लेकिन इस अभाव को क्षणिक और अस्थायी रूप से बाह्य जगत् के प्रति आसक्ति और मूर्च्छा से भी भरा जा सकता है। ऐसी मूर्च्छा ही परिग्रह है। इसलिये जो परिग्रह के बंधनों से अपरिग्रह की मुक्ति में प्रवेश चाहता है, उसे अपनी मूर्च्छा को तोड़ना होगा।

स्वयं के समस्त कार्यों, विचारों और भावों में जागरूक रहने से क्रमश: मूर्च्छा नष्ट होती है। साधारणत: हम सोये ही हुये हैं। अपने कार्यों और विचारों का निरीक्षण करेंगे तो यह सहज ही ज्ञात हो जायेगा। **सम्यक निरीक्षण जागरूकता में ले जाता है और जागरूकता अपरिग्रह बन जाती है।**

"मैं कौन हूं?" इसे न जानने से ही परिग्रह पैदा होता है। स्वयं की संपदा को जानते ही, बाह्य संपत्ति विपत्ति में परिणत हो जाती है। जिसके पास हीरे मोती नहीं हैं, वही कंकड़-पत्थरों को बीनने में समय खो सकता है।

परिग्रह के बहुत रूप हैं, लेकिन सूक्ष्मतम और केन्द्रीय परिग्रह विचारों का परिग्रह है। उस तल पर जो अपरिग्रह को साध लेता है, वह समाधि को उपलब्ध हो जाता है। वस्त्र छोड़कर नग्न होना बहुत कठिन नहीं है, किन्तु असली तपश्चर्या तो विचारों के वस्त्र छोड़कर नग्न होने में है— शरीर नहीं, आत्मा नग्न। और **भीतर शून्य हो तो ही सत्य का साक्षात् संभव है।**

और भोजन त्यागकर निराहार रहना भी क्या बहुत कठिन है? किन्तु असली प्रश्न तो विचार का आहार छोड़कर उपवास में होना है। विचार मात्र स्वयं से दूर ले जाते हैं। जहां विचार की प्रक्रिया है, वहीं सत्ता स्वयं से विमुख है। स्वयं को छोड़ कहीं और होना ही विचार का प्राण है। **विचार में हम स्वयं से दूर और निर्विचार में स्वयं में होते हैं। और स्व में होना ही है परमात्मा के निकट वास अर्थात् उपवास है।** विचार का अपरिग्रह ही अत्यंतिक और आधारभूत अपरिग्रह है।

यह स्मरण रहे कि परिग्रह की वृत्ति परमात्मा, स्वर्ग या मोक्ष पाने के लिये सहज ही छोड़ी जा सकती है, लेकिन वह वास्तविक अपरिग्रह नहीं है। जहां कुछ भी पाने की कामना है, चाहे वह मोक्ष की ही क्यों न हो, वहां वासना है, परिग्रह है, आसक्ति है। यह लोभ का अन्त नहीं वरन् रूपान्तरण है। और इस रूप में उसे पहचानना भी बहुत कठिन है। क्या संन्यासियों में छिपे संसारियों को पहचानना, कठिन नहीं है?

वासना जहां है, वहां संसार है। इसलिये, मोक्ष को तो चाहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि चाहने के कारण ही वह मोक्ष नहीं रह जाता है। जो चित्त मोक्ष को चाह रहा है, वह संसार को ही चाह रहा है। क्योंकि चाह में ही संसार का बीज है। मोक्ष की चाह से भरे चित्त में अभी स्वयं के बाहर जाने का द्वार खुला हुआ है। उसकी कामना के स्वप्नों का अभी अन्त नहीं हुआ। वह स्वप्नों को भंग कर अभी स्वयं में लौटने में समर्थ नहीं हुआ है। उसे स्वयं की सत्ता स्वयं में ही पूर्ण और पर्याप्त है, इस सत्य की अभी प्रतीति नहीं हुई है। अभी वह नये नामों से पुरानी दौड़ में ही दौड़ रहा है। उसके चित्त की शराब पुरानी ही है, सिर्फ बोतलें उसने नयी ले ली हैं।

वास्तविक अपरिग्रह तो तभी फलित होता है, जब स्वयं का स्वयं होना पर्याप्त और पूर्ण होता है। वस्तुत: ऐसी अनुभूति ही मोक्ष है। **मोक्ष को चाहा नहीं जाता, लेकिन चित्त में जब कोई चाह नहीं होती है तो उसे पाया अवश्य ही जाता है।** वह स्वयं के बाहर कोई उपलब्धि नहीं, वरन् स्वयं के भीतर जो है उसका ही अनावरण और अनुभूति है।

अप्रमाद

मैं मृत्यु के तथ्य को अनुभव करने से अप्रमाद को उपलब्ध हुआ हूं। जीवन में भविष्य के एक भी क्षण का भरोसा नहीं। जो क्षण हाथ में है, वही है। वही निश्चित है और उसके अतिरिक्त शेष सब अनिश्चित। वर्तमान के क्षण के सिवाय और किसी की कोई भी सत्ता नहीं है। न अतीत है, न भविष्य है। जब है और जो है, वह वर्तमान है।

जीवन वर्तमान में है—अभी और यहीं। इसलिये वर्तमान के जीवन को भविष्य में जीने के लिये आँखें रहते स्थगित नहीं किया जा सकता। और न ही उसे अतीत की मृत स्मृतियों में डूबकर ही गंवाया जा सकता है। जो क्षण हाथ में है उसके कार्य को आने वाले क्षण पर छोड़ने से बड़ी और क्या भूल हो सकती है? ऐसी भूल ही प्रमाद है। जीवन में स्थगन की प्रवृत्ति ही प्रमाद है। **प्रत्येक क्षण को उसकी पूर्णता में जी लेना अप्रमाद है।**

प्रमाद मृत्यु के क्षण तक स्थगन ही करता रहता है और अंततः पाया जाता है कि जीवन बिना जिये ही चुक गया है। मृत्यु यह देखने को भी तो नहीं ठहरती है कि आप अभी जी भी पाये थे या नहीं? किन्तु **अधिकतर लोगों की प्रमाद-निद्रा मृत्यु के पहले नहीं टूटती है।** वे तो मरकर ही जानते हैं कि जीवन जा चुका है। और जिये बिना जीवन निकल जाने से बड़ी पीड़ा नहीं है। मृत्यु भी उन्हें ही पीड़ा दे जाती है, जो कि जीवन को जिये ही नहीं और उसे सदा स्थगित ही करते रहे। **जो जीवन को उसकी पूर्णता और समग्रता में जीते हैं, वे मृत्यु को भी आनन्द से जीने में समर्थ होते हैं।** मृत्यु बता देती है कि जीवन कैसा बीता। जो मृत्यु में भी आनन्द में है, केवल वही जीवन में भी आनन्द में रहा है।

क्या जीवन की खोज को कल पर छोड़ रहे हो? क्या सत्य की दिशा में कदम उठाने का विचार कल के लिये स्थगित कर रखा है? तो स्मरण रखना कि आज ही केवल हमारा है। एक कल मर गया है और एक अभी पैदा ही नहीं हुआ। जो हो सकता है, वह अभी ही हो सकता है। वस्तुतः कल के लिये टालना किसी काम को न करने की अपनी वृत्ति को स्वयं से ही छिपाने के उपाय से ज्यादा नहीं है। कल पर टाला हुआ काम सदा के लिये ही टल जाता है और उसके दुर्भाग्य का तो अंत ही नहीं है जो कि जीवन को ही कल के लिये टाल देता है।

कल के स्वप्नदर्शी आज के वास्तविक समय और शक्ति को व्यर्थ व्यय हो जाने देते हैं और कल के आदर्श के लिये जीने वाले आज की विकृति को उस आदर्श के सम्मोहन में सहने और भूलने में समर्थ हो जाते हैं। जिन्हें जीवन को बदलना है, वे कल का नहीं, आज का विचार करते हैं। उनके लिये वास्तविकता आदर्श से कहीं ज्यादा मूल्यवान होती है और वे जानते हैं कि आदर्श स्वप्नों में से नहीं, वरन् आज की वास्तविकताओं के परिवर्तन से ही जन्मते और जीवन्त बनते हैं।

अज्ञान

पाप क्या है? **अज्ञान ही पाप है। शेष सारे पाप तो उसकी ही छायायें हैं।** इसलिये मैं कहूँगा कि छायाओं से नहीं, वरन् उससे ही लड़ो जो कि उनका मूल है और आधार है। जो छायाओं से लड़ता है, वह निश्चय ही भटक जाता है। छायाओं से लड़कर जीत तो असंभव ही है। बस हार ही हो सकती है।

कन्फ्युसियस ने कभी कहा था : 'अज्ञान ही मन की रात्रि है।' इस रात्रि में फिर न मालूम कितने पापों की प्रेत छायायें खड़ी हो जाती हैं। रात्रि के साथ ही उनकी सत्ता है और रात्रि के साथ ही उनकी मृत्यु है। जो जानता है, वह उनसे नहीं वरन् उनकी जन्मदात्री रात्रि से ही लड़ता है। और यह लड़ना भी रात्रि से लड़ना नहीं, वरन् प्रकाश के जन्म के लिये ही लड़ना है। क्योंकि अन्धकार से सीधा लड़ने का कोई उपाय नहीं। उस प्रकाश की संभावना भी प्रत्येक के भीतर ही है। **जो मन अज्ञान के कारण रात्रि है, वही मन प्रज्ञा के प्रकाश से दिवस भी बन जाता है।**

स्व-विवेक को प्रज्जवलित कर निश्चय ही समस्त अन्धकार नष्ट किया जा सकता है। किन्तु जो आलोक भीतर है उसे हम बाहर खोजते हैं और इसीलिये उपलब्ध नहीं कर पाते। आलोक पाने के लिये भीतर मुड़ना आवश्यक है, लेकिन वहां भी बाहर से आये प्रभावों ने सभी कुछ ढांक रखा है। ये बाह्य प्रभाव ही हमारे विचार बन गये हैं और **विचारों की राख में विवेक की अग्नि दबी है।**

विचार और विचारों की पर्तों ने उसे ढांक रखा है जो कि हमारी विचार की शक्ति है। किन्तु विचारों की राख को अलग कर जो स्वयं में झांकता है, वह पाता है कि वहां तो एक ऐसी अग्नि जल रही है, जो कि अनादि और अनन्त है। इस अग्नि को अनावृत्त कर लेना ही आलोक के मूल स्रोत को पा लेना है।

अज्ञान को छिपाना हो तो दूसरों से ज्ञान को सीख लो। लेकिन ज्ञान को पाने का वह मार्ग नहीं। वस्तुत : तो **दूसरों के ज्ञान से ज्ञानी बनने से बड़ा कोई अज्ञान नहीं है।**

अज्ञान की आत्मा है आत्म-अज्ञान। **जो स्वयं को ही नहीं जानता, उसके कुछ भी जानने का क्या मूल्य?** और स्वयं को जानना न किसी शास्त्र से हो सकता है, न किसी शास्ता से। उसके लिये तो स्वयं की चित्त की निद्रा को तोड़ना होगा। उस दिशा में कोई भी सहारा नहीं है और कोई भी शरण नहीं है। इससे ही जिनमें साहस है और स्वयं पर विश्वास है, केवल वे ही सत्य की ओर जा सकते हैं।

आत्म–विश्वास

आत्म-विश्वास का अभाव ही समस्त अंधविश्वासों का जनक है। जो स्वयं में विश्वास नहीं करता, वह किसी और में विश्वास करके अपने अभाव की पूर्ति कर लेता है। यह पूर्ति बहुत आत्मघाती है क्योंकि इस भांति व्यक्ति स्वयं के विकास और पूर्णता की दिशा से वंचित हो जाता है। जिसे स्वयं पर विश्वास नहीं, उसे सिवाय अनुकरण के और किसी पर निर्भर होने के और उपाय ही क्या है?

'पर' निर्भरता हीनता लाती है और किसी की शरण पकड़ने से दीनता पैदा होती है। चित्त धीरे-धीरे एक भांति की दासता में बंध जाता है और दास-चित्त कभी भी प्रौढ़ नहीं हो सकता। **पौढ़ता आती है–स्वयं के पैरों पर खड़े होने से, स्वयं की आंखों से देखने से और स्वयं के अनुभवों की कठोर चट्टान पर जीवन निर्मित करने से।** स्वयं के अतिरिक्त स्वयं के सृजन का और कोई द्वार नहीं है।

मैं किसी और में श्रद्धा करने को नहीं कहता हूँ। दूसरों में श्रद्धा करने के कारण ही सब भांति के पाखंड पैदा हुये है। वस्तुत : किसी को किसी का अनुशरण करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक किसी दूसरे जैसा नहीं, वरन् स्वयं ही होने को पैदा हुआ है।

स्वतंत्रता

मैं ऐसे गुलामों को जानता हूँ, जो मानते हैं कि वे स्वतंत्र हैं। और उनकी संख्या थोड़ी नहीं है, वरन् सारी पृथ्वी ही उनसे भर गई है। और चूंकि अधिक लोग उनके ही जैसे हैं, इसलिये उन्हें स्वयं की धारणा को ठीक मान लेने की भी सुविधा है, लेकिन मेरा हृदय उनके लिये आंसू बहाता है, क्योंकि गुलाम होते हुये भी उन्होंने अपने आपको स्वतंत्र मान रखा है और इस भांति स्वयं ही अपने स्वतंत्र होने की प्राथमिक संभावना को ही समाप्त कर दिया है। धर्मों के नाम से संप्रदायों में कैद व्यक्ति ऐसी ही स्थिति में हैं।

इस भांति की परतंत्रताओं में निश्चय ही सुविधा है और सुरक्षा है। सुविधा है, स्वयं विचार करने के श्रम से बचने की और सुरक्षा है, सबके साथ होने की। और इसलिए ही जो कारागृह है, उन्हें नष्ट करने की तो बात ही दूर, कैदीगण ही उसकी रक्षा के लिय सदा प्राण देने को तत्पर रहते हैं! मनुष्य भी कैसा अद्भुत है, वह चाहे तो अपने कारागृहों को ही मोक्ष भी मान सकता है! लेकिन इससे बदतर गुलामी कोई दूसरी नहीं हो सकती है।

स्वतंत्रता पाने के लिये सबसे पहले तो यही आवश्यक है कि हम जानें कि हमारा चित्त कितनी गहरी दासता में है, क्योंकि जो यही नहीं जानता, वह स्वतंत्रता के लिये अभीप्सा भी अनुभव नहीं कर सकता। **कैद की पीड़ा ही मुक्ति की आकांक्षा में बदल जाती है।** फिर वास्तविक बंधन बाहर नहीं, भीतर है, इसलिये उन्हें पहचानना भी आसान नहीं।

वे इतने परिचित भी हैं कि हमने उन्हें बंधन मानना ही छोड़ दिया है। उनका दंश अनुभव न हो, इसलिए हमने उन्हें खूब सजीली बंदनवारों से भी गूंथ दिया है। परम्परायें, अंधविश्वास, रूढ़ियाँ, संप्रदाय, शास्त्र और शब्द हमारे मन को बुरी तरह बांधे हुये हैं। उनके बाहर हमने सोचना और देखना सभी बंद कर दिया है। ऐसी अवस्था में ज्ञान का उद्भव कैसे होगा? समाज से दिये हुये पक्षपात और संस्कारों की दासता को जो नहीं तोड़ सकता है, वह सत्य को और स्वयं को जानने का अधिकारी ही नहीं है। सत्य पाने का अधिकार चित्त की परिपूर्ण स्वतंत्रता में ही प्राप्त होता है।

क्या जीवन में रास्ता नहीं मिलता है? तो उसे बनाओ। वस्तुतः बना बनाया कोई रास्ता ही नहीं है। **प्रत्येक को अपने ही श्रम से अपना मार्ग बनाना पड़ता है और**

अपने ही विवेक के प्रकाश में उस पर यात्रा भी करनी होती है। जीवन भी दूसरों से नहीं मिलता और न ही जीवन का मार्ग मिलता है।

जड़ता ही बंधी हुई लीकों पर गति करती है, जीवन नहीं। जीवन तो प्रतिपल अज्ञात में प्रवेश है, इसलिये उसके लिये कोई पूर्वनिर्धारित मार्ग नहीं है। और न ही होना भी चाहिये। जीवन के भीतर से ही उसका मार्ग भी निकलता है। और मेरी दृष्टि में मनुष्यात्मा का इससे बड़ा और कोई सन्मान नहीं हो सकता। क्योंकि मार्ग पर चलने की स्वतंत्रता कोई वास्तविक स्वतंत्रता नहीं है। **वास्तविक स्वतंत्रता तो स्वयं के लिये स्वयं ही मार्ग निर्मित करने में निहित होती है।**

आप चाहते हैं कि एक शब्द में, मैं अपने समस्त दर्शन को कहूं? तो मैं कहूंगा– **'स्वतंत्रता'। परतंत्रता जड़ता है और स्वतंत्रता आत्मा। जीवन का विकास जड़ता से आत्मा की ओर है अर्थात् परतंत्रता से स्वतंत्रता की ओर है।** मैं मनुष्य के चित्त को सब भांति स्वतंत्र देखना चाहता हूँ। उस स्वतंत्रता में ही उसके सत्य तक और स्वयं तक पहुँचने की संभावना है।

स्वतंत्रता से बड़ा न कोई आनंद है, न कोई उपलब्धि। क्योंकि उसमें ही उस बीज के वृक्ष तक पहुंचने का द्वार है जो कि मनुष्य में छुपा हुआ है। मनुष्य तो प्रारंभ ही है। वह कोई अंत नहीं। अंत तो है परमात्मा। लेकिन, आंतरिक स्वतंत्रता के अभाव में मनुष्य अपने अंत तक कभी नहीं पहुंच सकता।

इससे बड़ी पीड़ा ही क्या होगी कि बीज, बीज ही रह जावे और जो हो सकता था वह न हो सके। स्वयं की पूर्ण संभावना को पाये बिना आनन्द और कृतार्थता कैसे उपलब्ध हो सकती है? **धन्यता तो केवल उन्हीं का भाग्य बनती है, जो कि स्वयं की पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं।**

धर्म

मैं आपको देखता हूँ तो दुख अनुभव करता हूँ, क्योंकि **किसी भी भांति बिना सोचे विचारे, मूर्छित रूप से जिये जाना जीवन नहीं, वरन् धीमी आत्महत्या है।** क्या आपने कभी सोचा कि आप अपने जीवन के साथ क्या कर रहे हैं? क्या आप सचेतन रूप से जी रहे हैं? क्योंकि यदि हम अचेतन रूप से बहे जा रहे हैं और जीवन के सचेतन सृजन में नहीं लगे हैं, तो सिवाय मृत्यु की प्रतीक्षा के हम और क्या कर रहे हैं? जीवन तो उसी का है जो उसका सृजन करता है।

आत्मसृजन जहां नहीं, वहां आत्मघात है। मित्र, जन्म को ही जीवन मत मान लेना। यह इसलिये कहता हूं कि अधिक लोग ऐसा ही मान लेते हैं। जन्म तो प्रच्छन्न मृत्यु है। वह तो आरंभ है और मृत्यु उसका ही चरम विकास और अंत। वह जीवन नहीं, जीवन को पाने का एक अवसर भर है। लेकिन जो उस पर ही रुक जाता है, वह जीवन पर नहीं पहुँच पाता। जन्म तो जीवन के अनगढ़ पत्थर को हमारे हाथों में सौंप देता है। उसे मूर्ति बनाना हमारे हाथों में है। यहां कलाकार और कलाकृति और कला और कला के उपकरण सभी हम ही हैं। **जीवन के इस अनगढ़ पत्थर को मूर्ति बनाने की अभीप्सा धर्म है।**

धर्म जीवन से भिन्न नहीं है। जो धर्म जीवन से भिन्न है, वह मृत है।

मैं कैसे जीता हूँ, वही मेरा धर्म है। यह मत पूछिये कि मेरा कौन सा धर्म है क्योंकि धर्म बस धर्म है। और उसमें किसी विशेषण को लगाने का क्या सवाल? जहां विशेषण है और विशेषण का आग्रह है, वहीं धर्म, धर्म नहीं है।

धर्म जीवन को परमात्मा में जीने की विधि है। संसार में ऐसे जिया जा सकता है, जैसे कि कमल सरोवर की कीचड़ में जीते हैं।

क्या उचित नहीं होगा कि आपका धर्म आपके धर्मग्रन्थों और धर्मस्थानों में नहीं वरन् आप में ही दिखाई पड़े? वह भी मात्र आपकी वाणी में ही प्रगट हो, तो असत्य है। **सत्य का प्रमाण शब्द नहीं, केवल जीवन ही होता है।** कॉयलर ने कहा है: "दीपक बोलता नहीं, जलता है।" धर्म भी जब स्वयं के जीवन में जलता है, तभी बोलता है।

क्या आप असंभव से डरते हैं? असंभव से मत डरो। असंभव को चुनने से ही भीतर प्रसुप्त शक्तियां जाग्रत और सक्रिय होती हैं। जो सदा संभव की सीमा में ही चलता है, वह अपनी ही पूर्ण संभावनाओं के साक्षात् से वंचित रह जाता है।

असंभव की अभीप्सा में ही स्वयं की शक्तियों का जागरण है। और सर्वाधिक असंभव क्या है? परमात्मा में जीना सर्वाधिक असंभव है। इसलिये मैं धर्म को सबसे बड़ा साहस कहता हूँ। लेकिन जो उस साहस को करता है, वह सरलतम और सहजतम जीवन को पा लेता है, क्योंकि **स्वयं की समग्र संभावनाओं का परमात्मा की दिशा में सक्रिय हो जाना ही सरलतम जीवन की उपलब्धि है।**

स्वरूप में जीना सरलतम है, लेकिन उसकी अभीप्सा करना कठिनतम, क्योंकि **जो निकटतम है वह निकट होने के कारण ही विस्मृत हो जाता है।**

अमूर्च्छा को ही मैंने धर्म जाना है। क्योंकि अमूर्च्छा ही जीवन के लिये नाव है। मूर्च्छित चित्त तो ऐसी नौका में बैठा हुआ है जो कि है ही नहीं! उस पर यात्रा पार होने के लिये नहीं डूबने के लिये ही हो सकती है।

भगवान श्री रजनीश हिन्दी साहित्य

		मू. रु.
१	महावीर मेरी दृष्टिमें	३०-००
२	महावीर - वाणी	३०-००
३	जिन खोजा तिन पाईयां	२०-००
४	ईशावास्योपनिषद्	१२-००
५	प्रेम है द्वार प्रभुका	८-००
६	आचार्य रजनीश समन्वय, विश्लेषण, संसिद्ध	७-५०
७	घाट भुलाना वाट बिनु	७-००
८	समुन्द समाना बुंद में	७-००
९	सूली ऊपर सेज पिया की	७-००
१०	सत्यकी पहली किरण	६-००
११	मैं कहता आँखन देखी	६-००
१२	अन्तर्वीणा	६-००
१३	ढाई आखर प्रेमका	६-००
१४	संभावनाओं की आहट	६-००
१५	संभोग से समाधि की ओर	६-००
१६	साधना-पथ	५-००
१७	अहिंसा दर्शन	१-००
१८	गहरे पानी पैठ	५-००
१९	अमृत कण	१-००
२०	प्रेम के फूल	५-००
२१	मिट्टी के दिये	५-००
२२	बिखरे फूल	१-००
२३	अन्तर्यात्रा	५-००
२४	गीता दर्शन	५-००
२५	सत्य की खोज	४-००
२६	समाजवाद से सावधान	४-००
२७	पथ के प्रदीप	४-००
२८	मैं कौन हूँ ?	३-००
२९	क्रान्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया	१-००
३०	काम योग धर्म और गांधी	३-००
३१	प्रेम और विवाह	१-५०
३२	विद्रोह क्या है ?	१-५०
३३	प्रगतिशील कौन ?	१-५०
३४	ज्योतिष अर्थात् अध्यात्म	१-५०
३५	ज्योतिष : अद्वैत का विज्ञान	१-५०
३६	सिंहनाद	१-५०
३७	सारे फासले मिट गये	१-२५
३८	मन के पार	१-००
३९	धर्म और राजनीति	१-००
४०	युवक और यौवन	१-००
४१	अवधिगत सन्यास	०-३०
४२	नव संन्यास	०-३०

पुस्तकें मिलने का पता :—

जीवन जागृति केन्द्र

३१, इजराइल मोहल्ला, भगवान भुवन, मस्जिद बंदर रोड, बम्बई—९.

फोन : ३२७६१८/२१

A—१, वूडलॅन्ड अॅपार्टमेंट, पेडर रोड, बम्बई—२६. फोन : ३८११५९